जनसत्ता

Date: 20-07-16

चंदा और सियासत

चुनाव प्रणाली को निष्पक्ष और पारदर्शी बनाने के मकसद से पार्टियों को मिलने वाले चंदे पर नजर रखने की जरूरत लंबे समय से रेखांकित की जाती रही है। इसे लेकर कुछ नियम-कायदे भी बने, पर कम ही पार्टियां उनका पालन करती हैं। कायदे से राजनीतिक दलों को दस हजार रुपए से अधिक चंदा देने वाले व्यक्तियों का ब्योरा सार्वजनिक करना अनिवार्य है, मगर वे ऐसा नहीं करतीं। इस पर कई बार अदालतें एतराज भी जाहिर कर चुकी हैं। बीते मार्च में जब पार्टियों को मिले चंदे का विवरण सामने आया और इस तरह कांग्रेस की आय अधिक दर्ज हुई तो दिल्ली उच्च न्यायालय ने उसके स्रोत के बारे में जानकारी तलब की थी। अज्ञात स्रोत से आने वाले चंदे पर नकेल कसने के मकसद से निर्वाचन आयोग ने भी विधि आयोग को पत्र लिखा था कि उम्मीदवारों के चुनावी शपथ-पत्र में आय के स्रोत की जानकारी का विवरण मांगने के लिए नियमों में संशोधन किया जाना चाहिए। मगर उस पर कोई फैसला नहीं हो पाया है। अब इस संबंध में केंद्रीय सूचना आयोग ने छह राष्ट्रीय दलों भाजपा, कांग्रेस, बसपा, राकांपा, माकपा और भाकपा को नोटिस भेज कर उनके अध्यक्षों को अदालत के समक्ष पेश होने को कहा है। सूचनाधिकार कानून के तहत एक व्यक्ति ने इन दलों से उनकी आय का स्रोत जानना चाहा था, पर ये जानकारी देने में टालमटोल करते रहे। इस पर जब उसने सूचना आयोग से गुहार लगाई तो आयोग ने इन दलों के अध्यक्षों को हाजिर होने को कहा। हालांकि इस कड़ाई के बाद राजनीतिक दलों में चंदे आदि को लेकर कितनी पारदर्शिता आ पाएगी, कहना मुश्किल है। राजनीतिक पार्टियों को मिलने वाले चंदे पर अंकुश न होने की वजह से न सिर्फ चुनावों में तय सीमा से अधिक खर्च लगातार बढ़ता गया है, बल्कि भ्रष्टाचार को भी बढ़ावा मिला है। छिपी बात नहीं है कि जो लोग राजनीतिक दलों को गुप्त रूप से भारी चंदा देते हैं, उनके निहित स्वार्थ होते हैं और सत्ता में आने के बाद संबंधित पार्टियां उन्हें उपकृत करने की कोशिश करती हैं। दूसरे, इस तरह बड़े पैमाने पर काले धन को छिपाने का मौका भी मिलता है। कायदे से पार्टियों को हर साल अपनी आय का आॅडिट कराना जरूरी होता है, पर वे इससे कन्नी काटती हैं। कांग्रेस वर्षों से अपने नेताओं और कार्यकर्ताओं से सादगीपूर्ण जीवन जीने, तड़क-भड़क से दूर रहने की अपील करती रही है, पर उसने खुद अपनी आय के स्रोत छिपा कर रखने में कभी गुरेज नहीं किया। इसी तरह भाजपा काले धन पर नकेल कसने का बढ़-चढ़ कर दावा करती रही है, पर उसने अज्ञात स्रोत से आने वाले पैसे से कभी परहेज नहीं किया। बसपा पर पार्टी के लिए चंदे वसूलने को

लेकर अनेक मौकों पर अंगुलियां उठ चुकी हैं, पर उसने इसे गंभीरता से कभी नहीं लिया। विचित्र है कि वाम दलों ने भी चंदे के मामले में वही रास्ता अख्तियार किया, जो दूसरे बड़े राष्ट्रीय दल अपनाते रहे हैं। आम आदमी पार्टी ने जरूर अपनी आय का ब्योरा वेबसाइट पर सार्वजनिक करके राजनीतिक शुचिता की पहल की थी, पर वह दूसरों के लिए अनुकरणीय नहीं बन पाई। दरअसल, जब तक राजनीतिक दल और उनके नेता-कार्यकर्ता अपने खर्चों पर अंकुश लगाने की पहल नहीं करेंगे, चंदे के मामले में उनमें पारदर्शिता आ पाना मुश्किल है। शायद कोई भी दल चुनाव प्रणाली को साफ-सुथरा बनाने को लेकर गंभीर नहीं है।

बिज़नेस स्टैंडर्ड

Date: 20-07-16

स्मार्ट शहर के सफर पर चलने के लिए क्या हो सही डगर?

सुबीर रॉय

स्मार्ट सिटी परियोजना के लिए तय पांच वर्षों की अवधि में आखिर पहले साल के अंत में क्या प्रगति हुई? क्या उन 100 शहरों में उचित प्राथमिकताएं तय की जा रही हैं, जिन शहरों का चयन केंद्र सरकार ने इस योजना के लिए किया है? इस अखबार के अंग्रेजी संस्करण ने हाल में चार स्मार्ट शहरों के हालात का जायजा लेकर उसकी लवासा के साथ तुलना की। लवासा की अवधारणा दशक भर पुरानी है, जिसे निजी क्षेत्र की पहल पर शुरू किया गया। जिन शीर्ष 20 शहरों में से भुवनेश्वर, सूरत, विशाखापत्तनम और पुणे का जायजा लिया गया है, वे सभी शहरों के सूरते हाल को नहीं दर्शाते। वे पहले से ही काफी हद तक स्मार्ट हैं और उनकी सकारात्मक शहरी छवि रही है।

ऐसे में कम से कम स्मार्ट शहरों के बीच सिरमौर बने शहरों में कामकाज कैसे सिरे चढ़ रहा है? वे अभी शुरुआत करने की स्थिति में ही हैं। ये सभी शहर परियोजनाओं की देखरेख के लिए विशेष उद्देश्य निकाय (एसपीवी) गठित कर चुके हैं ताकि परियोजनाएं उन तमाम अवरोधों में न फंस जाएं, जिसके

लिए सरकारी विभाग कुख्यात होते हैं। वित्तीय संसाधनों के लिहाज से दो शहरों में सकारात्मक संकेत नजर आए हैं, जहां कुछ संसाधन पहले ही जुटाए जा चुके हैं, जिनमें भुवनेश्वर और विशाखापत्तनम को कुछ विदेशी मदद भी मिलेगी। चूंकि यह बड़ी महत्त्वाकांक्षी एवं चर्चित परियोजना है, लिहाजा विभिन्न एसपीवी निदेशक मंडलों में सक्षम सदस्य होंगे और ऐसे अधिकारियों की उम्मीद है, जो समय की मियाद के पहलू का ख्याल रखेंगे।

इन शहरों में ऐसी तमाम दिक्कतें नहीं दिखतीं, जिनसे अक्सर भारतीय शहर जूझते रहते हैं। मसलन यहां प्रबंधन कौशल और संसाधनों की कमी नहीं है और राज्य सरकारों का रुख भी इन्हें लेकर संजीदा है। स्मार्ट सिटी की अवधारणा में सूचना प्रौद्योगिकी समाधानों की अहम भूमिका बताई जा रही है और उम्मीद है कि इनके जरिये परिवहन, बिजली और जल आपूर्ति प्रबंधन जैसे क्षेत्रों में खासा सुधार होगा। विकास पर त्वरित रूप से नजर रखने वाली डिजिटल नियंत्रण प्रणाली भी बहुत मददगार होगी। इन सभी कवायदों में कोई बुराई नहीं है लेकिन शीर्ष प्राथमिकता कुछ और तय होनी चाहिए।

भारतीय शहर बेडौल आकार में विस्तार करते जा रहे हैं क्योंकि गरीब लोग रोजगार की तलाश में शहरों की ओर कूच कर रहे हैं और उन्हें रहने के लिए केवल नई पुरानी झुग्गी बस्तियों में ही जगह मिल रही है। 'बेतरतीब' घरों या झुग्गी सरीखे हालात वाले मकानों में रहने वालों की संख्या लगातार बढ़ रही है। यह आपकी इस परिभाषा पर निर्भर करता है कि आप शहर के दायरे को कैसे तय करते हैं लेकिन हकीकत यही है कि आधी मुंबई झुग्गी बस्तियों में रहती है।

शहर केवल उसी स्थिति में वृद्घि के अगुआ बन सकते हैं, जब वहां स्वास्थ्य के मोर्चे पर कोई खतरा और सामाजिक असंतोष के चलते कानून व्यवस्था और ऐसी तमाम चुनौतियां उत्पन्न न हों। लिहाजा बुनियादी कवायद यही हो कि स्लम बस्तियों को दुरुस्त किया जाए। इसके बजाय हो यह रहा है कि उन इलाकों को विकास के लिए चुना गया है, जो पहले से ही विकसित हैं और इसमें पुणे जैसे मामले मिसाल हैं। भुवनेश्वर ने ज्यादा तार्किक रूप से सोचते हुए अपने रेलवे स्टेशन के नजदीक वाले इलाके को विकास के लिए चुना है।

दूसरी प्राथमिकता कचरा प्रबंधन के मोर्चे पर तय होनी चाहिए, जिसमें उसके पृथक्करण, पुनर्चक्रण और खाद बनाने की कवायद को अंजाम दिया जाए। इससे कूड़े के लिए कम जमीन की जरूरत होगी और यह तमाम शहरों में इस बढ़ती चुनौती का समाधान करेगा। बेंगलूरु तमाम मायनों में ज्ञान आधारित आधुनिक भारत की उम्मीद और प्रतीक है जहां सक्रिय नागरिक समाज की भी पूरी सहभागिता है लेकिन वह एक तरह से सड़ांध मार रहा है क्योंकि यहां ठोस कचरे को समय से ठिकाने लगाने में अक्षमता बनी हुई है।

बेंगलूरु की कचरा समस्या समाधान के लिए आपको उच्चस्तरीय आईटी समाधान की जरूरत नहीं है, जिन्हें स्मार्ट सिटी परियोजनाओं का खास अवयव माना जा रहा है। उनके बजाय कुछ आत्मबोध यानी कॉमनसेंस की ही जरूरत होगी, जिसमें शासन के भी कम से कम दखल की दरकार होगी। ऐसा नहीं कि भारतीय शहरों में ऐसा हो नहीं सकता। पुणे ने ठोस कचरे से निपटने में अनुकरणीय मिसाल पेश की है।

तीसरी प्राथमिकता स्वच्छ पेयजल उपलब्ध कराने की होनी चाहिए और जल संचयन एवं शोधन संयंत्रों पर भी ध्यान दिया जाए। जो लोग पानी के लिए भुगतान कर सकते हैं, उनसे यह वसूला जाए। इस मामले में कोलकाता का प्रदर्शन बहुत खराब है, जहां राजनीतिक दखल के चलते संपन्न तबके भी पानी के लिए भुगतान करने में इनकार करते हैं। चौथी प्राथमिकता किफायती दरों (महंगी मेट्रो रेल की तरह नहीं) पर विश्वसनीय सार्वजनिक परिवहन प्रणाली प्रदान करने की होनी चाहिए, जो शहर को कम से कम प्रदूषित करे और उनसे जाम की समस्या भी न पैदा हो। भारतीय शहरों में हवा की गुणवत्ता दुनिया में सबसे बदतर है। साथ ही आर्थिक पैमाने पर भी इसका खमियाजा भुगतना पड़ता है, जब घंटों ट्रैफिक जाम में खड़े वाहनों में जलता ईंधन बेवजह धुआं हो जाता है।

ऐसा नहीं है कि स्मार्ट सिटी की अवधारणा (सूरत में 4,350 किफायती मकान बनाने की योजना बनाई जा रही है) में इन मुद्दों का समाधान नहीं किया गया है लेकिन जिस तरह से पहले उसे पेश किया गया, उसमें यह नदारद नजर आया। लवासा से यही सबक निकलता है कि 10 साल बीत जाने के बावजूद एक आदर्श स्मार्ट सिटी एक दायरे में ही सिमटी रह सकती है, जो महज सप्ताहांत पर वक्त बिताने के लिए महज एक रिसॉर्ट ही बन पाई है।

Date: 20-07-16

अतार्किक कदम

लोकपाल एवं लोकायुक्त अधिनियम 2013 के क्रियान्वयन संबंधी अधिसूचना कई दिक्कतें पैदा कर सकती है। अधिसूचना में कहा गया है कि किसी भी पंजीकृत सोसाइटी, न्यास अथवा 10 लाख रुपये से अधिक विदेशी या एक करोड़ रुपये से अधिक की सरकारी सहायता पाने वाले गैर सरकारी संगठन के वरिष्ठïा पदाधिकारियों को लोक सेवक अथवा सरकारी कर्मचारी समझा जाएगा। बड़ी संख्या में परोपकारी संस्थाओं के अधिकारी इसके दायरे में आ जाएंगे। अधिसूचना में कहा गया है कि ऐसे संस्थानों के

सदस्यों, न्यासियों, चेयरपर्सन और अन्य पदाधिकारियों को 31 जुलाई तक अपनी संपत्ति की घोषणा करनी होगी। उनको अपने परिजनों की चल-अचल संपत्ति का ब्योरा देना होगा। सारी जानकारी सार्वजनिक रूप से गृह मंत्रालय को देनी होगी। हालांकि यह स्पष्टï नहीं है कि ऐसे लोगों पर भ्रष्टïाचार निवारण अधिनियम के तहत मुकदमा चल सकेगा या नहीं। सरकारी अधिकारियों पर इस अधिनियम के तहत ही मुकदमा चलता है। इन संस्थानों के पदाधिकारियों के लोक सेवक के दायरे में आने पर यह अनिवार्य प्रतीत होता है। इसकी वजह से स्वयंसेवी संगठनों अथवा अन्य परोपकारी संस्थाओं से जुड़े कई वरिष्ठï लोगों में पहले ही हड़बड़ी का भाव है। तमाम लोगों को डर है कि इससे इनकी गोपनीयता भंग होगी और इस जानकारी का प्रयोग उनके शोषण में हो सकता है। ऐसे संस्थानों के कई प्रमुख बोर्ड सदस्य और मानद न्यासी बाहर निकल जाएंगे। कुछ स्वयंसेवी संगठन इस मसले पर अदालत का रुख करने का मन बना चुके हैं।

इसमें दो राय नहीं कि नागरिक समाज को पारदर्शिता और जवाबदेही को बढ़ावा देना चाहिए। लोकपाल का विचार ही नागरिक समाज के आंदोलनों से उपजा है। गैरसरकारी संगठनों की अक्सर अस्पष्टïता के चलते आलोचना की जाती रही है। इन संगठनों के वरिष्ठï पदाधिकारियों को लोक सेवक मानना दो वजहों से गलत है। पहली बात, इस क्षेत्र को मिलने वाले अनुदान और उसके प्रयोग की जांच परख के लिए पहले से कई नियम हैं। इनमें विदेशी अनुदान की जानकारी गृह मंत्रालय को देना और अपने गैर लाभकारी दर्जे को साबित करने के लिए आयकर रिटर्न भरना शामिल है। भारतीय रिजर्व बैंक के नियमों के तहत ऐसे तमाम संगठनों के वरिष्ठï अधिकारियों के लिए 'अपने ग्राहक को जानें' मानक का पालन अनिवार्य है।

दूसरी बात, सरकारी अनुदान पाने वाले हर व्यक्ति को लोकपाल कानून के दायरे में नहीं लाया जा सकता। इसलिए कि इस आधार पर तो सरकारी मदद पाने वाले सभी निजी विद्यालय या ऐसे अनुदान पाने वाले स्वायत्त शोध संस्थान अथवा थिंक टैंक भी इन प्रावधानों के अधीन हो जाएंगे और उन सभी के वरिष्ठï पदाधिकारी लोक सेवक कहलाएंगे। निश्चित रूप से यह कानून की एक खामी है और सरकार को इसे जल्द दुरुस्त कर लेना चाहिए। सरकार पर पहले से ही असहमति रखने वाले व्यक्तियों और संगठनों को निशाना बनाने के आरोप लगते रहे हैं। पिछले साल सरकार ने विदेशी अंशदान नियमन अधिनियम के तहत 10,000 से अधिक एनजीओ के पंजीकरण विदेशी फंड लेने के चलते निरस्त कर दिए थे। एनजीओ से पारदर्शिता के सिद्धांत का पालन करने के लिए कहने को गलत नहीं ठहराया जा सकता है लेकिन जिस तरह से इसे अंजाम दिया जा रहा है, वह कुछ विधि-संगत सवाल तो खड़ा करता ही है। लोकपाल अधिनियम जैसे कानूनों को इस तरह से बनाया जाना चाहिए कि वे लोक व्यवहार के नियमन के बारे में स्पष्टता लेकर आएं, न कि कुछ और भ्रम पैदा होने लगें। कानून के क्रियान्वयन में भी पूरी स्पष्टता होनी चाहिए और कौन सा कार्य या गतिविधि सार्वजनिक है, इसको लेकर भी समझ

साफ होनी चाहिए। सरकार को 31 जुलाई तक तय समय-सीमा को बढ़ाकर इस दिशा में पहला कदम उठाना चाहिए। वैसे इसमें कोई समस्या नहीं होनी चाहिए क्योंकि पहले भी इसकी समय-सीमा बढ़ाई जा चुकी है।

हिन्दुस्तान
तरक्की को चाहिए नया नजरिया

Date: 20-07-16

चीन की सीनाजोरी के अर्थ

डब्लू पी एस सिद्धू, सीनियर फेलो, न्यूयॉर्क यूनिवर्सिटी

हेग की परमानेंट कोर्ट ऑफ आर्बिट्रेशन ने साउथ चाइना सी (दक्षिण चीन सागर) पर चीन के दावे को लेकर जो फैसला दिया है, वह पहली नजर में उसके और फिलीपींस का द्विपक्षीय मामला लगता है। लेकिन हकीकत में यह एक उदाहरण भी है कि चीन किस तरह से पूरी दुनिया पर एक नई विश्व-व्यवस्था को थोपने की कोशिश कर रहा है।

फैसले से पहले और बाद में लगा कि चीन इस मामले पर हंगामा करने और लड़ाई की धमकी देने की रणनीति अपना रहा है। उसके इस व्यवहार से भारत समेत दुनिया की सभी बड़ी ताकतों के कान खड़े हो गए।

चीन का रवैया कभी पूरी अवज्ञा के साथ इस मामले से अपने को अलग करने का दिखा, तो कभी अदालत के क्षेत्राधिकार को ही नकारने का और बाकी पक्षों को सीधे-सीधे धमकी देने का। उसने न तो कभी इस अदालत से सहयोग करने की थोड़ी-सी भी कोशिश की और न ही वह इस मामले पर अपने लिए समर्थन जुटाता दिखा। इस सबकी बजाय वह यह मानकर बैठा रहा है कि एक विश्व महाशक्ति के तौर पर उसे यह अधिकार है कि वह ऐसी सारी व्यवस्थाओं को धता बताए; उन व्यवस्थाओं को भी, जिन्हें बनाने में वह भागीदार है।

दिलचस्प बात यह है कि इस मामले में उसका समर्थन करने वाले देशों में अफगानिस्तान और नाइजर भी शामिल हैं। ये दोनों ऐसे देश हैं, जो हर तरफ से भूमि से घिरे हैं और समुद्र के कानून का उनके पास

कोई अनुभव नहीं है। विडंबना यह है कि इस मामले में ताईवान ने भी इस अदालत के फैसले को नकार दिया है, वह चीन के साथ खड़ा दिखाई दे रहा है, जबकि साउथ चाइना सी पर वह भी अपना दावा जताता रहा है। पाकिस्तान भी चीन के साथ है। उसका कहना है कि इस मामले को सबंधित देशों को आपसी बातचीत से सुलझाना चाहिए, जबकि संयुक्त राष्ट्र में इस्लामाबाद के प्रतिनिधि का पक्ष यही है कि द्विपक्षीय मामलों को सुलझाने के लिए ऐसे फैसलों को लागू किया जाना चाहिए। चीन के 'वैकल्पिक अपवाद' के तर्क ने उसे ऐसा थोड़ा-बहुत समर्थन जरूर दिलवा दिया है।

लेकिन अमेरिका इससे सहमत नहीं है और उसके रक्षा सचिव एस्टर कार्टर ने कहा है कि चीन इस कदम से अपने लिए अलगाव की एक दीवार खड़ी कर लेगा। समुद्री कानून पर संयुक्त राष्ट्र संहिता, परमानेंट कोर्ट ऑफ आर्बिट्रेशन और साउथ चाइना सी पर चीन का रवैया भारत के उस रवैये के बिल्कुल विपरीत है, जो उसने 2008 में न्यूक्लियर सप्लायर्स ग्रुप से राहत पाने के लिए अपनाया था और कामयाबी भी हासिल की थी। बेशक इसमें अमेरिका ने भारत की मदद भी की थी। वहां पर भारत को यह राहत काफी कुछ दुनिया में नई दिल्ली की बढ़ती भूमिका और कुछ हद तक दुनिया की महत्वपूर्ण राजधानियों में चलाए गए उसके राजनयिक अभियान के चलते मिली थी।

अदालत के निणर्य पर चीन का रवैया शांतिपूर्ण विश्व-व्यवस्था के दो मिथकों को भी चुनौती देता दिखाई दे रहा है। इसमें पहला मिथक यह है कि देशों के बीच आर्थिक और व्यापारिक रिश्ते जितने ज्यादा होंगे, भू-राजनीतिक तनाव उतने ही कम हो जाएंगे। लेकिन चीन के मामले में अनुभव कुछ और ही कहता है। 2015 में एसोसिएशन ऑफ साउथ-ईस्ट एशियन नेशंस यानी आसियान चीन का तीसरा सबसे बड़ा व्यापारिक साझेदार बन गया था। चीन के आधिकारिक आंकड़ों के हिसाब से 2015 में चीन और फिलीपींस के बीच का व्यापार 2.7 फीसदी की दर से बढ़ा और 45.65 अरब डॉलर के रिकॉर्ड स्तर पर पहुंच गया।
फिलीपींस उन चार आसियान देशों में से एक है, जिनका चीन के साथ कारोबार लगातार बढ़ रहा है। और अगर हम फिलीपींस के आधिकारिक आंकड़ों को देखें, तो 2015 में चीन उसका दूसरा सबसे बड़ा व्यापारिक सहयोगी था। जिन देशों को फिलीपींस से निर्यात होता है, उनमें चीन तीसरे नंबर पर है। लेकिन अदालत के इस फैसले के बाद दोनों देशों के बीच जो कड़वाहट दिखाई दी, वह यही बताती है कि इस बढ़ते व्यापार ने दोनों के बीच मित्रता बढ़ाने में कोई भूमिका नहीं निभाई।

ऐसा ही दूसरा मिथक यह है कि विवादों के निपटारे की अंतरराष्ट्रीय व्यवस्थाएं जितनी ज्यादा और जितनी व्यापक होंगी, धमकियों और ताकत के इस्तेमाल की गुंजाइश उतनी ही कम हो जाएगी। चीन के रवैये ने इस मिथक को भी तोड़ दिया है। एक धारणा यह रही है कि आर्थिक और व्यापारिक संस्थाओं के एकीकरण से अंतरराष्ट्रीय सहयोग बढ़ रहा है, लेकिन इस फैसले के खिलाफ चीन की तीखी प्रतिक्रिया

ने यह खतरा भी पैदा कर दिया है कि दुनिया में चलने वाली तमाम बहुपक्षीय प्रक्रियाएं अब विपरीत दिशा में जा सकती हैं। मसलन, सितंबर में चीन के हांगचो में जी-20 देशों का सम्मेलन हो रहा है, यह चीन के नेतृत्व में हो रहा है और वहां इसका असर दिख सकता है। इसी तरह, अक्तूबर में गोवा में ब्रिक्स देशों का सम्मेलन होना है, वहां भी इसका असर दिख सकता है। दूसरी तरफ संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद में सुधार की जो प्रक्रिया चल रही थी, वह तो वैसे भी काफी धीमी पड़ चुकी है, मगर अब इसके और भी धीमे हो जाने की आशंका है। इसका असर भारत और चीन के बीच चल रहे सीमा-विवाद को निपटाने की प्रक्रिया पर भी पड़ेगा।

एक बात तय है कि परमानेंट कोर्ट ऑफ आर्बिट्रेशन का फैसला लागू हो पाने की जरा भी संभावना नहीं है। ऐसे फैसले को सिर्फ अमेरिका लागू करवा सकता है, लेकिन एक तो अमेरिका अकेला ऐसा देश है, जिसने संयुक्त राष्ट्र के समुद्री कानून कन्वेंशन पर अभी तक दस्तखत नहीं किए हैं और दूसरा, अभी वह चीन को सैनिक चुनौती नहीं देना चाहता। बीजिंग ने इस मुद्दे पर सैनिक कवायद बढ़ाने की खुली धमकी दी है। इतना ही नहीं, उसने अपनी कथित 'कैरियर-किलर' मिसाइलों को भी तैनात कर दिया है। दुनिया अब और ज्यादा उथल-पुथल भरी, और ज्यादा खतरनाक, और ज्यादा अव्यवस्थित हो चुकी है। (ये लेखक के अपने विचार हैं)

दैनिक जागरण

Date: 20-07-16

उच्च शिक्षा का भावी पथ

मानव संसाधन मंत्री प्रकाश जावड़ेकर ने उच्च शिक्षा संस्थाओं में अध्यापकों की जवाबदेही स्थापित करने पर जोर दिया है। जावड़ेकर के मंतव्य का स्वागत है। प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी की महत्वाकांक्षी स्किल इंडिया योजना का आधार ही उच्च शिक्षा है। यूनिवर्सिटी में सुधार किए बिना युवाओं को आधुनिक स्किल देना लगभग असंभव है। लेकिन देश की उच्च शिक्षा का रोग असाध्य हो गया है। अब जवाबदेही स्थापित करने जैसे छुटपुट कदमों से बात नही बनेगी। सर्जरी की जरूरत है। समस्या की जड़ें सरकार

द्वारा यूनिवर्सिटी में राजनीतिक नियुक्तियां किए जाने में है। राजनीतिक आधार पर नियुक्त वाइस चांसलरों द्वारा यूनिवर्सिटी के कामकाज में रुचि नहीं ली जाती है। दिल्ली यूनिवर्सिटी के एक असोसिएट प्रोफेसर ने बताया कि 22 वर्षों से उनका वेतनमान निर्धारित नहीं किया गया है। वह रिटायर भी हो गए, परंतु वेतनमान तय नहीं हुआ। कई वर्षों तक उन्हें यूनिवर्सिटी में बैठने का कमरा भी उपलब्ध नहीं कराया गया। वाइस चांसलर से कहने पर उत्तर मिला कि मैरी क्यूरी ने भी ऐसी ही परिस्थितियों में शोध किया था। अत: आप सुविधाओं के पीछे न पड़ें और रिसर्च करते रहें। राजनीतिक वाइस चांसलरों की इस बेरुखी से त्रस्त होकर प्रोफेसरों ने यूनियन बनाने का रास्ता अपनाया जिससे उनके न्यायसंगत हितों की रक्षा की जा सके। समय क्रम में यूनियन का दायरा बढ़ता गया और अब हालात ऐसे हैं कि प्रोफेसर पढ़ाना चाहते ही नहीं हैं।

आज आइआइटी में भी छात्र सेल्फ स्टडी अधिक कर रहे है। प्रोफेसर पूर्वनिर्मित स्लाइड शो दिखाकर चले जाते हैं। विद्यार्थियों के संदेहों को दूर करना उनके एजेंडे में नहीं है। इस विकट स्थिति में प्रोफेसरों की जवाबदेही को प्रभावी ढंग से स्थापित करना लोहे के चने चबाना है। जावड़ेकर यदि सच्चे मायने में जवाबदेही स्थापित करेंगे तो शिक्षक माफिया सामने खड़े हो जाएंगे। राजनीतिक नियुक्तियां न करने से भी अब बात नही बनेगी, क्योंकि यूनियन द्वारा प्रोफेशनल वाइस चांसलर को असफल कर दिया जाएगा। इस विकट परिस्थिति की जड़ प्रोफेसरों को स्थाई नौकरी देने में है। मैंने सत्तर के दशक में अमेरिका की यूनिविर्सिटी ऑफ फ्लोरिडा में उच्च शिक्षा प्राप्त की है। मेरे विभाग में कार्यरत 40 प्रोफेसरों में केवल दो को स्थाई नौकरी दी गई थी। शेष पांच वर्षों के ठेकों पर काम करते थे। चार वर्ष बाद उनके कार्य का मूल्यांकन होता था। तब उनके ठेके के नवीनीकरण पर निर्णय लिया जाता था। ऐसे में प्रोफेसर काम करते थे। बीते समय में अमेरिका में भी उच्च शिक्षा के स्तर का ह्रास हुआ है। इस समस्या का सामना करने के लिए राष्ट्रपति बराक ओबामा ने 'रेस टू द टाप' नाम की योजना लागू की है। इस योजना के अंतर्गत उन सरकारी कालेजों को अतिरिक्त धन एवं सुविधाएं दी जाती हैं जहां प्रोफेसरों का मूल्यांकन विद्यार्थियों द्वारा किया जाता है तथा जहां प्रोफेसर ठेके पर रखे गए हैं। इस प्रणाली को जावड़ेकर को लागू करना चाहिए। नए प्रोफेसरों की नियुक्ति को अनिवार्यत: ठेके पर करना चाहिए। यूनिवर्सिटी को अनुदान तब ही मिलना चाहिए जब प्रोफेसरों का मूल्यांकन विद्यार्थियों द्वारा तथा किसी स्वतंत्र बाहरी संस्था द्वारा कराया जाए।

पूरे संसार में यूनिवर्सिटी व्यवस्था अस्ताचल की ओर बढ़ रही है। अब तक शिक्षण का मूल स्वरूप गुरु-शिष्य परंपरा का था। विद्यार्थियों के सामने प्रोफेसर खड़े होकर लेक्चर देते थे। इंटरनेट ने इस परंपरा पर ही प्रश्नचिन्ह लगा दिया है। अमेरिका की यूनिवर्सिटी ऑफ फीनिक्स में तीन लाख विद्यार्थी ऑनलाइन कोर्स ले रहे हैं। प्रोफेसरों द्वारा अपने ज्ञान को ऑनलाइन प्रोग्राम में डाल दिया जाता है। विद्यार्थी अपने लिए अनुकूल समय में यूनिवर्सिटी की वेबसाइट पर जाकर साफ्टवेयर से शिक्षा प्राप्त

करता है। जरूरत के अनुसार यदा कदा ट्यूटोरियल चलाए जाते हैं जहां विद्यार्थियों द्वारा अपने संदेहों को दूर किया जाता है। पूर्व में एक प्रोफेसर द्वारा एक सत्र में 100 विद्यार्थियों को पढ़ाया जाता था। अब उसी एक प्रोफेसर द्वारा निर्मित साफ्टवेयर से एक लाख विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त कर सकते है। अमेरिका के ही मैसाचुसेट्स इंस्टीट्यूट ऑफ टेक्नालॉजी ने इलेक्ट्रानिक सर्किट डिजाइन पर एक मुफ्त ऑनलाइन कोर्स प्रारंभ किया। इसमें 154,000 विद्यार्थियों ने दाखिला लिया। इनमें से सात हजार ने कोर्स पूरा किया। कोर्स के प्रमाणपत्र को प्राप्त करने के लिए इनसे मामूली रकम वसूल की गई।

ऑनलाइन तथा लेक्चर द्वारा शिक्षण की प्रथाओं का मिला-जुला मॉडल बन रहा है। वीडियो कांफ्रेंसिंग के द्वारा एक ही प्रोफेसर हजारों विद्यार्थियों को एक साथ ऑनलाइन लेक्चर दे सकता है और प्रश्नोत्तर के माध्यम से संदेह दूर कर सकता है। व्यवस्था की जा सकती है कि विद्यार्थी अपने संदेह को वेबसाइट पर डालें तथा प्रोफेसर उसका निवारण विशेष समय एवं दिन करें। उस समय तमाम विद्यार्थी उस प्रश्न का हल प्राप्त कर सकते हैं। इसमें संशय नहीं है कि इस प्रथा का विस्तार होगा। ऑनलाइन शिक्षा से उच्च शिक्षा की लागत में भी भारी गिरावट आएगी। जैसा ऊपर बताया गया है मैसाचुसेट्स इंस्टीट्यूट आफ टेक्नालॉजी ने सर्किट डिजाइन का मुफ्त कोर्स उपलब्ध कराया था। आज आइआइटी की फीस दो लाख रुपया प्रतिवर्ष है। ऑनलाइन कोर्स से यह फीस दस हजार रुपये प्रतिवर्ष रह जाएगी। आइआइटी में दाखिले का झंझट भी कम हो जाएगा। आवेदक ऑनलाइन प्रवेश परीक्षा दे सकेंगे और दाखिला हासिल कर सकेंगे। शीघ्र ही ऑनलाइन कोर्स के संदेहों को दूर करने को एक समानांतर प्राइवेट ट्यूटोरियल व्यवस्था खड़ी हो जाएगी। इससे स्किल इंडिया का विस्तार होगा।

ऑनलाइन कोर्स को अपना लें तो हमारी यूनिवर्सिटी व्यवस्था में प्रोफेसरों की भारी भरकम फौज की जरूरत ही नहीं रह जाएगी। विद्यार्थियों का भविष्य वाइस चांसलरों एवं प्रोफेसरों के आपसी द्वंद्व से मुक्त हो जाएगा। अत: जावड़ेकर को चाहिए कि ऑनलाइन शिक्षा को बढ़ावा दें। प्रोफेसरों की पदोन्नति को ऑनलाइन कोर्स बनाने से जोड़ दिया जाए। ऑनलाइन शिक्षा के विस्तार को आइआइटी तथा आइआइएम की तर्ज पर इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ ऑनलाइन एजुकेशन की शृंखला स्थापित की जाए।

तीसरा कदम विदेशी यूनिवर्सिटियों को प्रवेश देने का उठाना चाहिए। इनके प्रवेश से भारतीय यूनिवर्सिटी को मजबूरन अपनी गुणवत्ता में सुधार लाना होगा। हम देख चुके हैं कि प्राइवेट बैंकों को प्रवेश देने से सरकारी बैंकों के कामकाज में भारी सुधार हुआ है। इन्हें दिखने लगा कि ग्राहक को अच्छी सेवा नहीं देंगे तो बैंक ही बंद हो जाएगा। इसी प्रकार विदेशी यूनिवर्सिटी से डिग्री प्राप्त करने का विकल्प उपलब्ध हो जाएगा तो आइआइटी तथा आइआइएम के प्रोफेसरों पर दबाव बनेगा कि वे विद्यार्थियों को पढ़ाएं। विदेशी यूनिवर्सिटी के भारत में प्रवेश को भारतीय यूनिवर्सिटी के उस देश में प्रवेश से जोड़ देना चाहिए।

तब भारत की आइआइटी द्वारा अमेरिकी विद्यार्थियों को डिग्री दी जा सकेगी। सही मायने में प्रोफेसरों की जवाबदेही स्वयं स्थापित हो जाएगी।

[लेखक डॉ. भरत झुनझुनवाला, आर्थिक मामलों के विशेषज्ञ हैं तथा आइआइएम बेंगलूरु में प्रोफेसर रह चुके हैं]